निज़ामे ज़िन्दगी

आयतुल्लाहिलउज़्मा सैय्यिदुलउलमा सै० अली नक़ी नक़वी ताबा सराह
सम्पादनः नूरे हिदायत फ़ाउन्डेशन

पहला अध्याय

तालीम व तरबियत

जिन्दगी के निज़ाम (system) की बुनियाद

इसका इन्तेज़ाम कब से शुरू हुआ? मज़हब वाले इस सिलसिले में बड़ी दूर का पता देते हैं, वह कहते हैं कि जब हर इन्सान की रूह (आत्मा) का जिस्म (शरीर) से रिश्ता भी नहीं हुआ था, उस से वचन लिए गये थे। उसे "आ़लमे ज़र" के नाम से याद करते हैं और कुर्आन में इस इक़रार (वचन) का बयान मौजूद है। (आयत- *अलस्तो बेरब्बेकुम, क़ालू बला*) यक़ीनन मुझको और मेरे ऐसे बहुत से लोगें को वह इक़रार याद नहीं है लेकिन मैं नहीं कह सकता कि किसी इन्सान को वह याद नहीं हो सकता। अपना होश न रखने वाला किसी बात को भूल जाने वाला, ये हुक्म लगाने का क्या हक़ रखता है कि उसकी तरह सब भूल जायेगें। हो सकता है कि बड़े मज़बूत मन के और भांपने वाले ऐसे इन्सान हों जिन की रूह जिस्मानियत (शारीरिकता) के शिकन्जों में ज़ाहिरी तौर (प्रत्यक्ष रूप से) पर गिरफ्तार हो के भी उस "आ़लमे अलस्त" को और वहां के इक़रार को पूरी तरह याद रखती हों मगर मैं तो अपने सीमित और कमज़ोर मन की वजह से कह सकता हूँ कि मुझे वह इक़रार (वचन) याद नहीं फिर भी मालूम होना चाहिये कि एक चीज़ जो याद कर ली गई हो, हो सकता है बाद में भूल जाए और उसका याद किया जाना भी दिमाग़ में बाक़ी न हो मगर फिर जब वह सबक़ (पाठ) पढ़ाया जायेगा और याद करने की कोशिश की जाएगी तो उस पहली याद की मिटी हुई छाप इस मरतबा आसानी की वजह ज़रूर होगी और इतनी परेशानी उसमें नहीं होगी जितनी बिल्कुल किसी नये सबक़ के याद करने में होती हैं।

इस तरह *"आ़लमे अलस्त"* का होना ज़रूर इन्सान के मन को उनके आज के दौर (वर्तमान काल) में (ख़ुदा के) जानने समझने और भक्ति के दर्जे से करीब करने का ज़रिया बन सकता है। लेकिन ये अक़ीदे से ताल्लुक़ रखने वाली बात है। अब जो इस जिस्म से पहले रूह के होने को ही न मानता हो और *'आ़लमे-ज़र'* को कोई चीज़ न समझता हो, वह मेरे इस बयान को बिल्कुल ग़लत और बे-बुनियाद समझेगा।

फिर आईए आगे बढ़ें और उस दौर का बयान करें, जब ये इन्सान माद्दी (शारीरिक) रूप में आता है यानि जब दुनिया में पैदा होता है। हम देखते हैं कि शरीयत के एहकाम ने इसकी पैदाइश के पहले ही से उसकी आने वाली (भविश्य) अ़मली ज़िन्दगी (Practical Life) को सुधारने की तरफ़ तवज्जो रखी है।

बियाह में, आने वाले वक़्त (भविष्य) का ख़याल: औलाद के फ़ायदे के लिए माँ का चुनाव

शरीयत ने इस इन्सान की ज़िन्दगी की भलाई का सुधार का इन्तेज़ाम तब से किया है जब अभी उसने इस दुनिया में क़दम भी नहीं रखा है। वह अभी किसी छिपे परदे में भी नहीं है बल्कि अभी इस बात का भी कुछ ठीक नहीं है कि वह आने वाले समय में 'हो'गा भी

या नहीं, अभी सिर्फ़ वह एक 'दूर की उम्मीद' की तरह है, और ये वक़्त वह होता है जब उसका बाप शादी करने का इरादा करता है। इसी वक़्त इस तरह की हिदायत है कि हर औरत के साथ आँखें बन्द करके वह शादी न कर ले बल्कि चुनाव से काम ले और ऐसी औरत और ऐसे घरानों में शादी करे जहाँ चाल-चलन और आदतों के लिहाज़ से शराफ़त और इन्सानियत का सत्त पाया जाता हो। इसमें किसी शक व शुब्हे की जगह नहीं कि बहुत से गुण विरासत के ज़रिये या अनुवांशिक (Generetive) तरीक़े से औलाद की तरफ़ चले जाते हैं। वह लोग जिन्हें जानवरों की ट्रेनिंग का शौक़ है इस क़िस्म के तजुर्बे लेते रहते होंगे कि एक छोटी क़िस्म के जानावर का ताल्लुक़ बड़ी क़िस्म के जानवर से पैदा करके किस तरह उसकी नस्ल को धीरे-धीरे ऊँचे दर्जे पर लाया जाता है।

इससे साफ़ मालूम होता है कि गुणों में विरासत का क़ानून चलता है फिर चाल-चलन और आदतें ये अक्सर स्वभाव का नतीजा होती हैं। ये और बात है कि वह बिल्कुल न बदलने वाले न भी हो बल्कि ताक़त के साथ उनका मुक़ाबला करने पर उनमें बदलाव हो सके लेकिन फिर भी किसी ख़ास तरह काम के लिए प्रकृति/Nature की चाह वह सच्चाई है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जब माँ-बाप का प्राकृति मिज़ाज औलाद की तरफ़ जाता है तो खूबियों और आदतों में समानता सामने आती है। इस वजह से ज़रूरत है कि माँ-बाप चाल-चलन के ऊँचे और पाक हों ताकि उनकी खूबियों की परछाई औलाद के ऊपर पड़ सके यही वजह है कि इस मामले में शरीयत ने पाबंदियां लगाना ज़रूरी समझा है।

दुनिया में शादी-ब्याह के मामले में अलग-अलग हैसियतों से फ़र्क़ मिलता है। कभी ऊँची ज़ात, कभी नीची ज़ात देखी जाती है। यह बात हिन्दुस्तान के मुसलमानों में बहुत ज़्यादा पैदा हो गयी है। इधर किसी की बात छिड़ी, कहा गया वह तो नीच है, उसकी ज़ात ख़राब, वह बराबर वाला नहीं है। इस बँटवारे को इस्लाम धर्म ने बिल्कुल एतबार न करने के लायक़ रखा है।

यह यहूदी ईसाईयों की ज़ेहनियत थी कि वह बनी इस्माइल[अ०] (इस्माईल की सन्तान) को जिन में से रसूलल्लाह[स०] थे, अपने से कम दर्जे पर समझते थे। उनका ख़याल था कि हम बीवी की औलाद हैं और ये दासी की सन्तान हैं। उनको हमारे मुक़ाबले का हक़ नहीं है, मगर इस्लामी शरीयत ने ये आम एलान किया कि नस्ल जाति का फ़र्क़ भेदभाव कोई चीज़ नहीं है। (ये तो सिर्फ़ पहचान के लिए ख़ानदानों में बाँटा गया है इससे इज्ज़त में कोई फ़र्क़ नहीं आता) और अल्लाह के रसूल हज़रत मुहम्मद[स०] ने साफ़ कर दिया कि-

''कुरैशी को, दूसरों पर जो कुरैशी नहीं है और अरब को, दूसरों पर जो अरब नहीं है कोई फ़ख़्र गर्व नहीं है।'' क़ुर्आन में है-

तुम सब एक ही जान से हो- फिर फ़र्क़ कैसा? खुद रसूल[स०] ने अपनी बहुत क़रीब की अज़ीज़ ज़ैनब बिन्त (सुपुत्री) हजश का निकाह ज़ैद बिन (सुपुत्र) हारिस के साथ कर दिया जो देखने में एक गुलाम की हैसियत रखते थे और सबीआ बिन्तुल हारिस का निकाह मेक़दाद के साथ कर दिया।

इसी तरह माल और धन के लेहाज़ से फ़र्क़ जिसको आमतौर से शादी-ब्याह के मौक़े पर देखा जाता है। मज़ा तो ये है कि 'लड़की वाले' इस बात को देखें तो फिर भी सही है, क्योंकि लड़की की ज़िन्दगी, उसका रोटी-कपड़ा सब मर्द के साथ जुड़ा हुआ है लेकिन आज कल तो 'लड़के वाले' इस बात को पूछते हैं कि लड़की जायदाद वाली है या नहीं और वह कितने धनी घराने से है। ये बहुत अफ़सोसनाक ज़ेहनियत (मानसिकता) है। और कुछ लोग हुस्न और ख़ूबसूरती के आशिक़ होते हैं अब आजकल के ज़माने में अख़बारों में शादियों के लिए जो एलानात (विज्ञापन) होते हैं उनमें अक्सर खूबसूरती की बात होती है। शरीयत की शिक्षा में इन दोनों बातों को ध्यान में लाना ग़लत बताया गया है कि जो माल और ख़ूबसूरती को सिर्फ़ अपना मक़सद बनाएगा वह उन दोनों बातों से वंचित होगा।

शरीयत में किस लेहाज़ से फ़र्क़ भेद रखा गया

है? यहाँ विश्वास और कर्म के लेहाज़ से फ़र्क़ रखा गया है क्योंकि काफ़िर (अल्लाह को न मानने वाला) और मुस्लिम बराबर नहीं हैं और इनकी शादियां बिल्कुल नाजायज़ हैं, क्योंकि विश्वास और कर्म का असर औलाद पर पड़ना ज़रूरी है। इसी तरह बुरे चाल-चलन की और ग़ैर शरीफ़ानाा काम करने वाली अैरतों के साथ शादी की मनाही है। कुर्आन मजीद में यह हुक्म दिया जा रहा है कि-

इसका मक़सद यह है कि बुरे कामों के जरासीम (Germs) अपने केन्द्र से लगने रोग की तरह बढ़ कर किसी साफ़ माहौल को भी मैला न बना दें।

"माँ का चुनाव" औलाद के फायदे के लिए है इसके लिए नीचे दी गई हदीसों पर ग़ौर करें -

इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] की रिवायत है कि रसूलल्लाह[स०] ने फ़रमाया-

अपने नुत्फ़ों के लिए जगह (अपने बच्चों के लिए माँ) की खोज में चुनाव से काम लो क्योंकि बच्चों पर नानिहाल का बराबर असर पड़ता हैं।

एक हदीस में इमाम जाफ़रे सादिक़[अ०] फ़रमाते हैं-

"खुरासान (ईरान का एक प्रान्त) के लोगों में बहादुरी का गुण है और अरबों में सख़ावत (ख़ैरात) और रश्क (ईर्ष्या), लेहाज़ा अपने नुत्फों के लिए समझ-बूझ कर चुनाव करो।" इस काम में सबसे ज़्यादा ध्यान चाल-चलन, गुण और आदतों का रखना है।

इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] फ़रमाते हैं-

"औरत गले का हार है जरा ग़ौर कर लो कि तुम कैसी औरत को गले का हार बना रहे हो।" इरशाद होता है- "औरत का कोई मोल नहीं यानि कोई चीज़ नहीं जो उसके बराबर हो सके, न भले चलन वाली औरत के लिए न कुकर्मी के लिए, अगर अच्छे कर्मों वाली औरत है तो सोना चाँदी से भी अच्छी है और अगर बुरे कर्मों वाली है तो मिट्टी भी उसके बराबर नहीं क्योंकि मिट्टी भी उससे अच्छी है।" खूबसूरती किरदार की ख़राबी के साथ कोई चीज़ ही नहीं, इस को इन शब्दों में फ़रमाया है कि- "ख़बरदार! उन बाग़ों से बचते रहो जो घूरे पर उगे हुए हों।" पूछा गया कि इसका क्या मतलब है? फ़रमाया- "खूबसूरत औरत बुरे चलन और किरदार के साथ" ये है पहले से शरीयत की वह व्यवस्था जो इन्सान की पीढ़ियों को सवाँरने के लिए पहले से की गई है।

निकाह के संस्कार में इन्सानी ज़ेहनियत का बनाव

शादी ब्याह आम तौर पर इन्सान के स्वभाव की ज़रूरत का नतीजा है, मगर यह इस्लाम का सूझबूझ वाला चलन है कि उसने शादी के मसले में इस तरह हदें, बन्धन और तरीके व क़ानून लागू कर दिये हैं। जिनके बाद वह एक फ़र्ज़ (कर्त्तव्य) और धार्मिक रस्म की सूरत से किया जाता है। इसका बड़ा राज़ ये है कि जो चीज़ सिर्फ़ जज़्बात (भावनाओं) के तले की जाए उसके नतीजे की भलाई पर इन्सान को तवज्जो करने की कोई ज़रूरत ही महसूस नहीं होती और सिर्फ़ मन की चाहतों की वजह से उसे करना खुद ही उसके बेलगाम हो जाने का कारण होता है। लेकिन जब वह काम फ़र्ज़ और क़ानून की वजह से किया जाएगा तो इन्सान को उसके नतीजे की तरफ़ तवज्जो भी पैदा होगी और उसके सुधार की भी चिन्ता होगी। शादी के वक़्त से औलाद के भले को किस हद तक ध्यान में रखा गया है इसको आप उन दुआओं से समझ सकते हैं जिनके पढ़ने का इस मौक़े पर निर्देश है। ये दुआयें जिनका पढ़ना (ज़रूरी तो नहीं लेकिन) बहुत अच्छा है देखने में बिल्कुल मामूली चीज़ समझी जाती हैं लेकिन इन दुआओं में वह रूह छिपी होती है जो किसी अ़मल की असली बुनियाद है या इनमें उस फ़ायदे और मक़सद की तरफ़ इशारा होता है जो उस अ़मल में छिपा होता है। उनसे इन्सान के दिमाग़ में वे विचार बिठाए जाते हैं जिनका ध्यान रखा जाना शरीयत का मक़सद है।

अब देखिये इमाम ज़ाफर सादिक़[अ०] ने अबु बसीर की तरफ़ तवज्जोह करके फ़रमाया- "जब तुममें से किसी की शादी होती है तो उसे क्या करना चाहिए?" अबु बसीर ने कहा "मैं आप पर निछावर हो जाऊँ, मुझे नहीं मालूम" हज़रत ने फ़रमायाः "जब शादी का इरादा हो तो दो रकत नमाज़ पढ़ें और ख़ुदा की हम्द (वन्दना) करे और कहे- (यानि) "ऐ ख़ुदा! मैं ब्याह करना चाहता

हूँ। ऐ ख़ुदा! तो (फ़िर) मेरे लिए औरतों में से उसे ठहरा दे जो सबसे ज़्यादा पाक चलन की हो और जो अपने निज की और मेरे धन की रक्षा करने वाली हो और अच्छे भाग्य वाली और शुभ हो और मेरे भाग्य में उससे एक पाक बेटा ठहरा जो नेक सज्जन हो और जो मेरे जीते जी भी और मेरे मरने के बाद भी मेरा अच्छा वारिस/उत्तराधिकारी हो।''

फिर जब शादी हो जाये और औरत को ब्याह कर घर लायें तो उसके माथे पर हाथ रखें और यह दुआ पढ़े - यानि ऐ ख़ुदा! तेरी किताब के मुताबिक़ मैने इससे शादी की है और तेरी ज़िम्मेदारी पर मैने इसको लिया है और तेरे तय किये हुए शब्दों के ज़रिए से मैने इसको अपने लिए जायज़ बनाया है। अब अगर तूने इसके पेट से कोई औलाद मेरे भाग्य में धरी है तो उसको बिल्कुल सही मुसलमान बनाना और उसमें शैतान को साझे का मौक़ा न देना।''

''सवीया'' शब्द के मानी है 'भरपूर'। इसका जैसा विशेषज्ञ आये, पूरापन उस लेहाज़ से भरोसे वाला होगा। *''ज़करन सवीया''* इसके मानी होंगे 'मुकम्मल लड़का' और यहां चूंकि *''मुसलेमन सवीया''* है, इसलिए मानी ये होंगे कि ''भरपूर मुसलमान'' जिससे इशारा अक़ीदे व कर्म दोनों के ठीक और पूरे होने की तरफ़ होगा। फिर कहा गया कि इसमें शैतान साझी न हो, इसके मानी ये हैं कि वह शैतानी रास्तों पर चलने वाला न हो यानि बुराइयों को करने वाला न हो। इन दुआओं के पढ़ने से इन्सान की ज़ेहनियत (मान्सिकता) बनती है और ये मक़सद मन में बैठ जाता है कि आने वाली औलाद को किस तरह का होना चाहिये।

जन्म के समय के हुक्म

अब वह वक़्त आया कि जब बच्चे का जन्म हुआ, उस वक़्त शरीयत की हिदायत है कि दाहिने कान में अज़ान कही जाये और बायें कान में एक़ामत। इसके मानी यह हैं कि सबसे पहले इसको पैग़ाम पहुँचाया जाये ख़ुदा के एक होने का, रिसालत (यानी मुहम्मद[स०] उसके भेजे हुए हैं) और फ़राएज़ के पूरा करने का। हो सकता है कि हम कहें कि इससे फ़ायदा क्या, जबकि वह हमको याद नहीं रहता। इसके बारे में मैं 'आ़लमे ज़र' की चर्चा में कह चुका हूँ कि हमें याद नहीं तो यह ज़रूरी नहीं कि किसी को भी याद न रहे, फिर बचपने के वाक़यों की याद रहने के दर्जे तो देखने और अनुभव के लेहाज़ से भी अलग-अलग हैं, यानि बहुत से लोगों को तीन चार बरस की बातें याद रहती हैं और कुछ को इससे कमसिनी की, फिर जबकि इसका कोई अक़्ली पैमाना नहीं और दर्जों का फ़र्क़ इसमें ज़ाहिर है तो हमें यह कहने का क्या हक़ है कि किसी को अपनी पैदाइश के बाद की बातें याद नहीं रह सकती।

फिर इसे यूँ क्यो न समझ लीजिये कि जैसे दुनिया के लोगों ने अपने चाव से मेल खाते शगुन तय किए हैं, जिनसे उनकी चाह ज़ाहिर होती है कि आने वाले वक़्त के हालात इस तरह हों। शरीयत ने उनकी मान्सिकता को बदलने के लिए अपनी तरफ़ से यह एक शगुन मुक़र्रर रखा है जिसका मक़सद इन्सान के दिमाग़ में इस आरजू का पैदा करना है कि यह बच्चा आगे चलकर इस रास्ते पर टिका रहेगा, और इन कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

दूध पिलाने का इंतेज़ाम

प्रकृति ने बच्चे का खानपान दूध बनाया है। इसके लिए अक्सर ज़रूरत पड़ती है कि अन्नाओं या दाइयों के ज़रिये से दूध पिलवाया जाये और कभी बे ज़रूरत भी अमीर घरानों की औरतें खुद इस काम से परहेज़ करती हैं और अन्ना को नौकर रखती हैं। इस काम में शरीयत की तरफ़ से पहले तो यह ज़ोर दिया गया है कि माँ खुद दूध पिलाए और अन्ना (दूध पिलाने वाली औरत) रखी ही न जाये। जैसा कि अमीरल मुमिनीन[अ०] फ़रमाते हैं- ''कोई दूध जो बच्चे को पिलाया जाए उसके लिए उसकी माँ के दूध से ज़्यादा बरकत वाला नहीं है।'' इसकी वजह बिल्कुल ज़ाहिर है कि खानपान जिस हद तक मिज़ाज के मुनासिब होगा उसी हद तक उसका फ़ायदा ज़ाहिर होगा और यह खुली हुई बात है कि बच्चा जो अपनी माँ का हिस्सा जैसा है उसके लिए खुद उसी की माँ के दूध से ज़्यादा कोई चीज़ उसके मिज़ाज के मुनासिब नहीं हो सकती।

लेकिन अगर अन्ना रखने की ज़रूरत पड़ जाए या बिला ज़रूरत भी माँ अपने फ़र्ज़ काम को पूरा न करे और अन्ना रखे तो ज़ोर दिया गया है कि उस औरत को छाँट कर रखा जाएँ और हर एक का दूध उस बच्चे को न दिया जाए, क्योंकि उसका असर उस बच्चे के चाल-चलन और अ़मल पर पड़ेगा और वही स्वभाव उसमें रचा-बसा रहेगा। इसीलिए यहुदियों, इसाईयों और मजूसिया से दूध न पिलवाने पर बल दिया गया है, अगर इत्तेफाक़ से यह काम ज़रूरी हो तो बच्चे को उसे न दिया जाए कि वह अपने घर ले जाये बल्कि उसको बुलाकर अपने यहां रखा जाए और उस औरत को शराब व सूवर के इस्तेमाल से रोक दिया जाये। मक़सद यह है कि अगर वह इन चीज़ों का इस्तेमाल करेगी तो उससे खुद उसका खून तैयार होगा और दूध के रूप में आयेगा और वह उस बच्चे के जिस्म में जाकर उसका खून बन जायेगा, शरीयत को किसी सूरत में भी यह मंजूर नहीं है कि मुसलमान के जिस्म में यह चीज़ें शामिल हों। नासबी औरत से भी दूध पिलवाने की मनाही है और नासबी औरत वह है जो अहले बैत[अ०] से दुश्मनी ज़ाहिर करती हो, इसके अलावा उसके दूसरे गुणों का भी ख़याल करना ज़रूरी है ताकि बच्चे के गुणों पर कोई बुरा असर न पड़े।

अमीरुल मोमिनीन[अ०] फ़रमाते हैं- ''ज़रा देख-भाल लो कि तुम्हारी औलाद को किस तरह की औरत दूध पिला रही है, इसलिए कि दूध से पैदा हुए नतीजों से ही लड़का जवान होगा।''

इमाम मु० बाकिर[अ०] फ़रमाते हैं- ''कम अक़्ल औरत से दूध न पिलवाओ, इसलिए कि दूध चाल-चलन के एक जगह से दूसरी जगह ले जाने क कारण होता है और बच्चा दूध की ख़ासियतों (विशेश्ताओं) की तरफ़ खिंच जाता है।''

अमीरूल मोमिनीन[अ०] का इरशाद है- ''दूध पिलाने के लिए उसी तरह चुनाव से काम लो जैसे शादी के लिए चुनाव करते हो, इसलिए कि दूध का असर कुदरती गुणों को दबा ले जाता है और तबियत बदल देता है।''

दूध बढ़ाई के बाद

जब बच्चे के 2 बरस पूरे हो जायें तो यह शरीयत से दूध पिलाने की आख़िरी मुद्दत (अवधि) है। खुद कुरान मजीद में है -सूरा बक़र आयत 233- माएँ अपने बच्चों को दो बरस दूध पिलाएं।

इस आयत से वह हुक्म भी ज़ाहिर है, जिस पर मैने पहले चर्चा की थी कि शरीयत की पहली चाह यही है कि खुद माँ अपने बच्चे को दूध पिलाये, क्योंकि इरशाद होता है कि ''माँएं अपनी औलाद को दूध पिलायें पूरे दो बरस'' - इसके मानी यह है कि अगर दो बरस के बाद कोई औरत बच्चे को दूध पिलाये तो शरीयत से जो दूध पिलाने के लिए जो हुक्म रखे गए हैं वह न लग पायेंगे। न वह इसकी माँ ठहर पाएगी, न यह उसकी औलाद इसकी भाई-बहन वग़ैरह, इस हुक्म में लड़के-लड़की की कोई खुसूसियत नहीं है, *''औलादहुन्ना''* की लफ़्ज दोनों के लिए एक जैसी है।

अब इसके बाद चार-पाँच बरस बच्चे को खेल-कूद लेने देना चाहिये यह ज़माना शिक्षा और आचार सिखाने का नहीं है, इसलिये कि अभी वह कुछ समझ ही नहीं सकता। बेशक इस बीच भी एक हद तक उन चीज़ो के बारे में देखभाल ज़रूरी है जिनकी अहमियत बहुत ज़्यादा है जैसे शराब वग़ैरह का इस्तेमाल न होने दें, और किसी दूसरे को नुक़सान न पहुँचाये, मगर यह चीज़ शिक्षा की हैसियत से नहीं है बल्कि यह ऐसा ही है जैसे जानवर अपना हो तो उसके ज़रिये से किसी को नुक़सान नहीं पहुँचने देना चाहिए, और शराब वग़ैरह से रोकना इस तरह है जैसे ज़हर सन्खया के इस्तेमाल से इस बच्चे को रोकना ताकि उसमें नुक़सानदेह जर्मस (किटाणु) और मारक ज़हर का असर पैदा न हो जाये। यह एक बाप या संरक्षक का निजी फ़र्ज़ है, बच्चे की तालीम से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं है।

सिखाने का ज़माना और माँ-बाप की ज़िम्मेदारियाँ

जब बच्चा छः या सात बरस का हो, अब उस की सिखाने पढ़ाने की ज़रूरत है। ये ख़याल बिल्कुल ग़लत है कि एक इंसान सिर्फ़ अपने कामों का ज़िम्मेवार है बल्कि अपने औलाद की भी भलाई सुधार व सिखाना

उसका ज़रूरी फ़र्ज़ है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वह खुद अपनी ज़ात से तो बहुत अच्छे हैं, नमाज़ रोज़े के पाबन्द हैं और शरीयत के सारे हुक्मों पर चलते हैं, मगर अपनी औलाद की तरफ़ उन्होंने कोई तवज्जो नहीं की है ऐसे लोग यकीनन खुदा के सामने जवाबदेह हैं, बल्कि मुझे खुद उनके नेक अ़मल में शक है। क्योंकि उनकी ये जो शरीयत की पाबन्दी है वह शरीयत की अहमियत समझने की वजह से नहीं है क्योंकि अगर उन्हें शरीयत के फ़र्ज़ की अहमियत का एहसास होता तो वह कभी अपनी औलाद को इस तरह बेलगाम न छोड़ देते जबकि हम देखते हैं कि इन्हें बच्चे की मामूली-मामूली बातों से जिनका ताल्लुक़ इस जिन्दगी से है उसका तो बहुत ख़याल है, किसी वक़्त दोपहर को गरमी में और लू धूप में बच्चा बाहर निकलना चाहता है तो माँ-बाप डाँट देंगे, रोकेंगे और जबरदस्ती से काम लेंगे कि वह बाहर न जाये, क्यों? क्योंकि लू की गर्मी उसको तकलीफ़ न पहुँचाये- फिर इस गर्मी का इतना ख़याल, मगर आख़िरत के अज़ाब की कोई परवाह नहीं।

जहन्नम की आग के भड़कते हुए लूकों का कोई ख़याल नहीं वह आज़ादी के साथ अपनी औलाद को ऐसे रास्तों पर चलने देते हैं जो उन्हें खुदा के अज़ाब का मुस्तहक़ (लायक़) बनाते हैं। मालूम होता है कि उन्हें क़यामत के दिन के हिसाब और खुदा के हुक्मों पर चलने का सही एहसास नहीं है। फिर यह खुद जो शरीअत के पाबन्द नज़र आते हैं, इसको सिर्फ़ उनके माँ बाप में फ़र्ज़ के एहसास का नतीजा समझिये कि उन्होंने इन हुक्मों पर चलने का उनको आदी बना दिया था इसलिए वह इसकी पाबन्दी करते हैं, वरना खुद उनके दिमाग़ में इन हुक्मों की कोई ख़ास अहमियत नहीं है।

इससे ज़्यादा एतराज़ के क़ाबिल उन लोगों का तरीक़ा है जो अपने कामों से अपने बच्चों के लिए ग़लत मिसाल बनते हैं और बुराइयों के लिए उनकी हिम्मत बढ़ाने की वजह खुद ही होते हैं। मैं सच कहता हूँ कि उनके लिए अकेले में किसी जुर्म का कर लेना उतना बुरा नहीं है जितना अपनी औलाद की जानकारी में ऐसे बुरे काम का करना। अगर जवानी मे कोई बहक जाये तो ख़ैर, इस पर खुदा से तौबा व माफ़ी की उम्मीद रह सकती है, मगर अब औलाद के सामने बहुत ज़्यादा उसे अपने आप की देखरेख और कन्ट्रोल की ज़रूरत है। याद रहे कि अगर औलाद की तबाही उसके हाथों हुई और उसकी नस्ल खुद उसकी वजह से गुमराही में फँस गयी तो वह खुद तो दुनिया से उठ जायेगा लेकिन तब भी उसके नाम-ए-आमाल (कर्म-पत्र) में गुनाहों का सिलसिला बना रहेगा क्योंकि वह उन सब ख़राब नतीजों का जो उसके बाद ज़ाहिर हो रहे हैं ज़िम्मेदार है।

अब ग़ौर कीजिए कि औलाद के पालने पोसने लिए शरीयत ने किस तरह इंतेज़ाम किया है?

इमाम जाफर सादिक़[अ०] फ़रमाते हैं:-

''सात बरस तक बच्चे को खेलने दो और फिर सात बरस बिल्कुल अपना आधीन/दास बनाए रखो यानी वह क्या-क्या करता है उस पर कड़ी नज़र रखो।''

दूसरी हदीस में है-

''अपने बच्चे को खुली छूट दो यहाँ तक की उसकी छः बरस की उम्र हो, फिर सात बरस तक उसे बिल्कुल अपने साथ रखो।'' यह साल का फ़र्क़ इस वजह से है कि असल में उसके लिए कोई एक निश्चित उम्र नहीं रखी गयी है बल्कि उम्र का एक ज़्यादा क़रीब का अन्दाज़ा बताया गया है। मतलब यह है कि जब बच्चा कुछ समझदार हो जाये और उस पर सिखाने का असर पड़ सके, यह बात कुछ बच्चों में, पाँच या छः बरस ही में मिल जाएगी और कुछ के यहाँ सात बरस या उससे ज़्यादा में।

शुरु की शिक्षा

इस मुद्दत (अवधि) में एक तरफ़ तो बच्चे के कामों और बरताव को सही करना चाहिये दूसरी तरफ़ उसको शरीयत के हुक्मों और फ़र्ज़ की जानकारी देनी चाहिए, इसलिये कि इसके बाद जल्दी ही वह वक़्त आ जाएगा जब उस पर शरीयत के हुक्म लागू हो जाएंगे और वह फ़र्ज़ की ज़िम्मेदारी में बन्ध जाएगा। इसके लिए उसे पहले से तैयार होने की ज़रूरत है। लेकिन उसके साथ शरीयत ने दुनिया की जरूरतों की भी अनदेखी नहीं की है।

(जारी)